

भावार्थ है न? १९८७ (गाथा का) भावार्थ। निर्जरा अधिकार। किसी सेठ ने अपनी दुकान पर किसी को नौकर रखा। और वह नौकर ही दुकान का सारा व्यापार-खरीदना, बेचना इत्यादि सारा कामकाज करता है, तथापि वह सेठ नहीं है... उसका वह स्वामी नहीं है। क्योंकि वह उस व्यापार का और उस व्यापार के हानि-लाभ का स्वामी नहीं है;... लाभ-नुकसान तो सेठ को है, नौकर चाहे जितना काम करे। वह तो मात्र नौकर है, सेठ के द्वारा कराये गये सब कामकाज को करता है। और जो सेठ है, वह व्यापार सम्बन्धी कोई कामकाज नहीं करता,... घर में बैठा हो। कल राणपुर का कहा था न? एक सेठ (को) नौकर (कहता है) 'यहाँ से चले जाओ, तुम्हारा काम नहीं, तुम घर चले जाओ।' समझ जाए (कि) अपना काम नहीं है, यह इसका काम - नौकर का काम है।

घर पर ही बैठा रहता है, तथापि उस व्यापार तथा उसके हानि-लाभ का

स्वामी होने से वही व्यापारी (सेठ) है। यह दृष्टान्त सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि पर घटित कर लेना चाहिए। जैसे नौकर व्यापार करनेवाला नहीं है, इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि विषयों का सेवन करनेवाला नहीं है, ... आहाहा! करनेयोग्य यह है, ऐसा पहले झुकाव तो करे कि आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है। जिस आनन्द के स्वाद के समक्ष चौदह ब्रह्माण्ड जिसे तुच्छ लगते हैं, ऐसा आत्मा में वह आनन्द है। अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान है। उस अतीन्द्रिय आनन्द का जिसे स्वाद आया, जानने में आया कि यह तत्त्व तो अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द से भरपूर पदार्थ है। ऐसा जिसे अन्तर्दृष्टि में, अनुभव में आया, वह सम्यग्दृष्टि काम करने पर भी वह नहीं करता। आहाहा! क्योंकि उसका स्वामी नहीं होता। आहाहा!

मिथ्यादृष्टि... जैसे नौकर व्यापार करनेवाला नहीं है, इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि विषयों का सेवन करनेवाला नहीं है, और जैसे सेठ व्यापार करनेवाला है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि विषय सेवन करनेवाला है। भले निवृत्ति लेकर एक ओर बैठा हो। आहाहा! दुकान के धन्धे का कुछ कामकाज न करता हो परन्तु अन्तर में उस धन्धे के लाभ और नुकसान का स्वामी तो वह है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि बाहर में व्यापार-धन्धा आदि न करता हो परन्तु अन्दर में स्वरूप से विरुद्ध राग के भाग को अपना मानकर उसमें वह पड़ा है, वह बाह्य के व्यापार का धन्धा न करता हो तो भी करता है। आहाहा! ऐसा काम है।

कलश - १३६

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं:-

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः,
स्वं वस्तुत्वं कलयितु-मयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च,
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

श्लोकार्थ : [सम्यग्दृष्टेः नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः भवति] सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है; [यस्मात्] क्योंकि [अयं] वह (सम्यग्दृष्टि जीव) [स्व-अन्य-रूप-आप्ति-मुक्त्या] स्वरूप का ग्रहण और पर का त्याग करने की विधि के द्वारा [स्वं वस्तुत्वं कलयितुम्] अपने वस्तुत्व का (यथार्थ स्वरूप का) अभ्यास करने के लिये, [इदं स्वं च परं] 'यह स्व है (अर्थात् आत्मस्वरूप है) और यह पर है' [व्यतिकरम्] इस भेद को [तत्त्वतः] परमार्थ से [ज्ञात्वा] जानकर [स्वस्मिन् आस्ते] स्व में स्थिर होता है और [परात्सर्वतो रागयोगात्] पर से-राग के योग से [सर्वतः] सर्वतः [विरमति] विरमता (रुकता) है। (यह रीति ज्ञानवैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हो सकती ॥१३६॥

कलश - १३६ पर प्रवचन

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं:- १३६ काव्य।

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः,
स्वं वस्तुत्वं कलयितु-मयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च,
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

ओहोहो! एक कलश में कितना भरा है! [सम्यग्दृष्टेः नियतं ज्ञान-वैराग्य-

शक्तिः भवति] शुद्धस्वरूप अनादि परमानन्द मूर्ति प्रभु, उसका जहाँ अनुभव (हुआ) और उसकी शक्ति और सामर्थ्य की प्रतीति ज्ञान और अनुभव हुआ, वह सम्यग्दृष्टि है। त्रिकाली अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान, पूर्ण अनन्त स्वभाव, परमात्मस्वरूप ही स्वयं प्रभु है। स्वभाव से, शक्ति से, सत्त्व से, भाव से (भरपूर है)। उस भाव को जिसने अनुभव किया। अनादि से कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का अनुभव था। कर्मचेतना अर्थात् राग। राग का वेदन और राग का फल दुःख का वेदन। अनादि का (उसका वेदन है)। दिगम्बर साधु नौवें ग्रैवेयक गया तो भी यह था। यह तो जहाँ अन्दर फिरता है, वस्तु की दृष्टि फिरती है। भगवान् पूर्णस्वरूप से भरपूर, उसका जहाँ अन्दर स्वीकार और अनुभव होता है, तब वह सम्यग्दृष्टि नियम से ज्ञान और वैराग्य (के) सामर्थ्यवाला होता है। निश्चय से स्वरूप का ज्ञान और राग का वैराग्य। आहाहा! ऐसी वस्तु है। यह तो अभी पहली भूमिका की बात है।

नियम से... ऐसा है न? 'नियतं' है न? 'नियतं' 'सम्यग्दृष्टेः नियतं' निश्चय से ज्ञान-वैराग्यशक्ति 'भवति' आहाहा! अर्थात् क्या कहते हैं? वास्तव में उसे ज्ञान और वैराग्य होता है। शास्त्र का जानपना और पर (पदार्थ) छोड़कर बैठे, इसलिए ज्ञान और वैराग्य हो गया, ऐसा नहीं है। वास्तव में ज्ञान और वैराग्य, ऐसा कहा है न? निश्चय से ज्ञान (अर्थात्) स्वरूप शुद्ध चैतन्य प्रभु का ज्ञान। उसे ज्ञेय बनाकर (हुआ) ज्ञान, उसे ज्ञेय बनाकर (हुई) श्रद्धा और उसे ज्ञेय बनाकर उसमें रमणता का अंश (प्रगट होना)। दर्शन, ज्ञान और स्वरूपाचरण। ऐसा जो सम्यग्दृष्टि, (उसे) निश्चय से ज्ञान और वैराग्य का सामर्थ्य होता है। ज्ञान का भी बल होता है और वैराग्य का भी बल होता है। आहाहा! स्वरूप का ज्ञान, उसका भी बल होता है और राग की क्रिया, दया, दान, व्रतादि से भी विरक्त है, ऐसा वैराग्य बल है। आहाहा! वह ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है।

[यस्मात्] क्योंकि [अयं] वह (सम्यग्दृष्टि जीव) [स्व-अन्य-रूप-आप्ति-मुक्त्या] अर्थात् स्व-रूप की 'आप्ति' और पररूप का 'मुक्त्या'। है? स्व-रूप ऐसा लेना। 'रूप' है न, तीसरा बोल? स्वरूप की 'आप्ति' अर्थात् स्वरूप का ग्रहण और अन्यरूप का 'मुक्त्या' अन्यरूप 'मुक्त्या' (अर्थात्) पर का त्याग। आहाहा! शब्द तो थोड़े हैं परन्तु (भाव बहुत भरे हैं)। स्वरूप का ग्रहण और पररूप का त्याग, (यह)

वैराग्य की बात की। रागादि पर। परवस्तु है, वह तो छूटी हुई ही पड़ी है।

स्वरूप—स्व-रूप, उसकी 'आप्ति', स्वरूप की 'आप्ति' अर्थात् ग्रहण। शुद्धस्वरूप पूर्णानन्द प्रभु... आहाहा! जिसके आनन्द के स्वाद के समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन भी जहाँ सड़े हुए मुर्दे जैसी बिल्ली, सड़ा हुआ कुत्ता हो, ऐसा लगता है। ऐसा उसका स्वाद है, कहते हैं। आहाहा! ऐसे (स्वरूप के) स्वाद से परिपूर्ण भरा हुआ है। उस स्वरूप की 'आप्ति', स्व-रूप की 'आप्ति' है न? 'आप्ति' अर्थात् ग्रहण। और पररूप, ऐसा लेना। अन्यरूप। स्व-रूप की 'आप्ति' और अन्यरूपता 'मुक्त्या' दो शब्दों में इतना रखा है। स्वरूप का ग्रहण अर्थात् स्वरूप की 'आप्ति' और अन्यरूप का 'मुक्त्या' - पर का त्याग। आहा! शब्द बहुत थोड़े हैं, भरा हुआ भाव अन्दर बहुत है। आहाहा!

मूल बात यह है कि आत्मा अनन्त.. अनन्त.. शान्ति, आनन्द का सागर है। उसकी इसे महिमा नहीं आयी। आहाहा! उसकी इसे विशेषता, दूसरी सब चीजों की अपेक्षा उसकी विशेषता भासित नहीं होती। यह विवाद यहाँ है। दुनिया की सब चीजें, इज्जत-कीर्ति, बाहर हा... हो..., हा... हो... चक्रवर्ती के राज्य और देव खम्मा-खम्म करे। सोलह हजार देव! उसकी विशेषता जिसे नहीं लगती परन्तु आत्मा का स्वरूप अनन्त गुण का भण्डार (भासित होता है, उसके समक्ष) आहाहा! वह सब भंगार है। भगवान अनन्त गुण का भण्डार है। यह नहीं कहते कि वह भंगार पड़ेगा। टुकड़े होकर (गिरेगा)। आहाहा! हमारे हैं? फावाभाई, मनहर, उसे यह धन्धा है। क्या कहलाता है वह? भंगार... भंगार! करोड़पति है। भंगार का पूरा कुआं एक बार भरा था। भंगार ला-लाकर पूरा कुआं (भरा था)। पैसा बहुत, उसमें वापस पैसे पैदा हो गये। भंगार। यहाँ कहते हैं कि एक ओर भण्डार तथा एक ओर भंगार। आहाहा!

भगवान अन्दर अकेला अनन्त गुण का भण्डार है। उसकी अधिकता और विशेषता के समक्ष कोई चीज विशेषता और अधिकता नहीं ले जाती। आहाहा! देह को देखना नहीं, देह है, वह जड़-मिट्टी है। आहाहा! वह भाई गुजर गये न? जयन्तीभाई। बेचारे यहाँ बहुत बार रहते थे। श्वास के ले लिये गये, ऑक्सीजन (लेने गये)। देह पूरी हो गयी, जाओ! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि स्वयं भगवान आत्मा स्व-रूप की 'आप्ति' और अन्यरूप का

‘मुक्त्या’ आहाहा! दो शब्दों में तो (कितना भरा है)! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान, उस स्व-रूप की ‘आप्ति’ (अर्थात्) ग्रहण, उस स्व-रूप का ग्रहण और राग का कण चाहे तो शुभ हो, उस पररूप का त्याग। पररूप की मुक्ति। आहाहा! है? ‘स्व-रूप-आप्ति - अन्य रूप मुक्त्या’ इतने शब्दों में तो... आहा! पूर्णानन्दस्वरूप भगवान का जहाँ स्वीकार और ग्रहण हुआ, दृष्टि में उसका आदर और अनुभव (हुआ)... आहाहा! और राग से लेकर सब चीज़, राग और विकार, उस अन्यरूप का त्याग। यहाँ बाह्य के त्याग की बात नहीं है। बाह्य का त्याग तो अनादि (से) है ही। बाह्य चीज़ तो ग्रहण ही नहीं की, इसलिए त्याग है, वह कहाँ (करने का रहता है)? आहाहा!

शास्त्र में तो यहाँ तक आया है कि रागरूप हुआ नहीं तो प्रत्याख्यान-राग का छोड़ना भी कहाँ रहा? वह तो ज्ञान, ज्ञानरूप रहे, इसका नाम प्रत्याख्यान है। आता है न? समयसार (३४वीं गाथा)। राग का त्याग, वह भी नहीं, कहते हैं। आहाहा! प्रत्याख्यान की व्याख्या है। क्योंकि स्वरूप जो चैतन्य, उसने राग को ग्रहण कब किया है कि छोड़े? पर का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं? आहाहा! परन्तु स्वरूप चैतन्य सच्चिदानन्द प्रभु, उसने राग को ग्रहण कब किया है, वह राग को छोड़कर प्रत्याख्यान करे? आहाहा! आत्मा, आत्मारूप से स्थिर हुआ, उसका नाम राग का त्याग नाममात्र कहा जाता है। आहाहा! लोगों की महिमा बाह्य त्याग के ऊपर है। इसलिए अन्तर के स्वरूप का ग्रहण और रागादि का त्याग, इसका उन्हें माहात्म्य सूझता नहीं है। आहाहा! बाहर (का) छोड़ा, इसने ऐसा किया, दुकान छोड़ी, इसने शरीर से आजीवन ब्रह्मचर्य पालन किया। यह सब बाहर की चीज़ें हैं। आहाहा!

यहाँ तो स्व-रूप का ग्रहण। अन्यरूप (अर्थात्) रागादि विकल्प का त्याग। यहाँ तो ग्रहण और त्याग कहना है न? नहीं तो राग का त्याग भी नाममात्र है। क्योंकि स्वरूप रागरूप नहीं हुआ था, इसलिए जो स्वरूप है, उसमें रहा, वही प्रत्याख्यान हुआ। वही राग का त्याग नाममात्र कहलाता है। आहाहा!

‘स्व-अन्य-रूप-आप्ति-मुक्त्या’ आहाहा! त्याग करने की विधि के द्वारा... [स्वं वस्तुत्वं कलयितुम्] उसमें ‘आप्ति’ कही थी न? स्वरूप की ‘आप्ति’। अब उस स्ववस्तु का ‘कलयितु’ (अर्थात्) अपने स्वरूप का अनुभव अपने वस्तुत्व का (यथार्थ स्वरूप का) अभ्यास... अर्थात् अनुभव। ‘कलयितु’ आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय

आनन्द का पिण्ड है। उसका अभ्यास अर्थात् उसका अनुभव। आहाहा! 'कलयितु' अर्थात् उसका अभ्यास—अनुभव। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव, वह स्व का अभ्यास कहलाता है। आहाहा! 'स्वं वस्तुत्वं' 'वस्तुत्वं' (अर्थात्) वस्तुपने का भाव। अपने वस्तुत्व का अर्थात् वस्तुत्व है न? वस्तु का जो स्वरूप है, ऐसा। वस्तु का जो स्वरूप है, अतीन्द्रिय आनन्द, ज्ञान, शान्ति, स्वच्छता, वीतरागता... आहाहा! उस वीतरागता का अनुभव, वह स्व का अनुभव और राग का त्याग वह पर का त्याग। शब्द थोड़े हैं, भाव बहुत गम्भीर है। सन्तों की वाणी है। उसमें दिगम्बर सन्त... आहाहा! पाँचवें काल में केवली को भुलाया है। यह ऐसी वाणी है। आहाहा! समझे उसे। 'वाणी जानी, उनने जानी है।' नहीं आता? श्रीमद् में मोक्षमाला में आता है। वाणी जानी, जिनवाणी जानी उनने जानी है, बापू! आहाहा! ऐसे के ऐसे वाणी पढ़ गये, जान लिया, धारणा (कर ली, वह नहीं)। आहाहा!

वीतराग की वाणी में तो वीतरागता का आदर आता है और राग का त्याग आता है। आहाहा! पश्चात् उसकी सब टीकायें हैं। आहाहा! शास्त्र में आता है न कि समभाव आदरना। यह उसकी सब टीका है। उसका अर्थ ही यह। आहाहा! अरे! परन्तु इसे कैसे बैठे? जरा कुछ बीड़ी, बाहर की सब्जी या दाल, पापड़ और आचार अच्छा हो तो वहाँ तो ऐसा मानो ओहोहो! आज तो खाकर ओ... डकार करे। आहाहा! है?

मुमुक्षु : बाहर दिखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मानो क्या किया, मानो अन्दर? अकेला पाप करके खड़ा हुआ है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं [स्वं वस्तुत्वं कलयितुम्] स्व-वस्तुपने का अनुभव। वस्तु के वस्तुपने का अनुभव। वस्तुत्व है न, अर्थात् वस्तु है प्रभु, उसका वस्तुपना अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द-ज्ञान आदि भावपना। आहाहा! उस वस्तु के स्वरूप का यथार्थ (यथार्थ स्वरूप का) अभ्यास करने के लिये, [इदं स्वं च परं] जो वह पहले कहा था। 'स्व-अन्य-रूप-आप्ति-मुक्त्या' और [इदं स्वं च परं] यह स्व है... यह ज्ञान और आनन्द से भरपूर भगवान, वह स्व है। आहाहा! और यह पर है... रागादि का विकल्प, वह बिल्कुल पर है। आहाहा! ऐसा जिसने अन्तर अनुभव किया, उसे ऐसा कि निर्जरा होती है,

ऐसा कहना है। वह संयोग में होने पर भी उस संयोग से छूटता जाता है, राग से छूटता जाता है और अन्तर की शुद्धि से बढ़ता जाता है। आहाहा!

स्व और पर ऐसा [व्यतिकरम्] अर्थात् इस भेद को... स्व अर्थात् आनन्द अतीन्द्रिय और पर अर्थात् रागादि और विकल्प-यह दो, इनका भेद। व्यतिकर अर्थात् भेद, दोनों की भिन्नता। [तत्त्वतः] आहाहा! अकेला जानना, जान रखा—ऐसा नहीं, कहते हैं। परमार्थ कहनेमात्र नहीं। आहाहा! स्व और पर अकेला कहने मात्र नहीं। आहाहा! स्व और पर परमार्थ से जानकर... देखा? [तत्त्वतः] आहाहा! समयसार, प्रवचनसार अलौकिक ग्रन्थ है। आहाहा! भरतक्षेत्र का भाग्य है कि ऐसे शास्त्र रह गये। काल ऐसा हल्का, शास्त्र ऐसे उत्कृष्ट रह गये। आहाहा! आत्मा अमर है, उसे पर्याय में अमर बनावे, ऐसे शास्त्र हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, स्व-पर को, ऐसा भेद। स्व-पर का भेद मात्र जानने में रखकर, वह नहीं। आहाहा! स्व-पर का भेद तत्त्व से जानकर। परमार्थ से आत्मा आनन्द और राग पर, ऐसा परमार्थ से बराबर अनुभव करके, जानकर। आहाहा! है या नहीं अन्दर? स्व और पर का व्यतिकर अर्थात् भिन्नता तत्त्वतः जानकर। परमार्थ वस्तुस्वरूप का अनुभव करके और स्व का ग्रहण तथा पर का त्याग, यह तत्त्वतः जाना कहलाता है, परमार्थ जाना कहलाता है। आहाहा!

[तत्त्वतः] परमार्थ से जानकर... तत्त्व से जानकर, ऐसा। तत्त्व से अर्थात् जो जाननस्वरूप प्रभु है, उसे आनन्द से जानकर। आहाहा! ऐसी बात सुनना मुश्किल पड़ती है। आहाहा! यह स्व है और यह पर है, ऐसा व्यतिकर। पर्याय में व्यतिकर आया था न? पर्याय व्यतिकर (अर्थात्) भिन्न-भिन्न है न? भिन्न-भिन्न। एक समय की पर्याय भिन्न-भिन्न, दूसरे समय में भिन्न-भिन्न। गुण हैं सहभावी, अन्वय, अन्वय। साथ में रहनेवाले, एक साथ। सहभूवा अर्थात् गुण एक साथ रहनेवाले, हों! द्रव्य के साथ गुण रहनेवाले, ऐसा नहीं। सहभू अर्थात् गुण एक साथ रहनेवाले। द्रव्य के साथ गुण रहनेवाले, ऐसा नहीं क्योंकि द्रव्य के साथ पर्याय भी रहती है, वह नहीं। गुण जो हैं, वे अनन्त साथ में रहनेवाले हैं। गुण जो हैं अनन्त, (वे) एक समय में साथ में रहनेवाले हैं। आहाहा! और पर्याय भिन्न-भिन्न व्यतिकर है। भिन्न... भिन्न... भिन्न... भिन्न यहाँ व्यतिकर अर्थात् स्व और पर को भिन्न करना, वह व्यतिकर है।

इस भेद को परमार्थ से जानकर... फिर करना क्या ? कि, [स्वस्मिन् आस्ते] 'स्वस्मिन् आस्ते' आनन्द में रहना। स्व में रहना, टिकना। आहाहा! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय वीतरागमूर्ति प्रभु है, उस स्व में रहना। स्व और पर का भेद जानकर, परमार्थ भेद जानकर स्व में रहना। आहाहा! ऐसा कठिन लगता है, इसलिए बेचारों को क्रिया के रास्ते चढ़ा दिया, जिसमें योगफल कुछ (हाथ नहीं आता)। योगफल आता है—संसार। जिसका योगफल संसार। आहाहा! अभी यह बात बैठना, इसका झुकाव करना, झुकाव... आहाहा! वह इसे कठिन लगता है। अभ्यास नहीं न, इसीलिए 'कलयितु' कहा न। आहाहा! 'स्वं वस्तुत्वं कलयितुम्' स्ववस्तु का अभ्यास - अनुभव कर। आहाहा!

[स्वस्मिन् आस्ते] 'स्वस्मिन्' प्रभु भगवान आत्मा। स्व और पर को तत्त्व से परमार्थ से जाना, भेद जाना, अब स्व में स्थिर हो, स्व में टिक, स्व में रह, आहाहा! है ? और [परात्रागयोगात्] 'परात्' की व्याख्या इतनी की है। पर अर्थात् शरीर, वाणी, मन और अमुक, वह तो पर तो त्याग ही है, पर तो अन्दर है ही नहीं। आहाहा! वह तो उसके कारण उसकी पर्याय। द्रव्य तो उसके ही कारण से है परन्तु उसकी पर्याय होती है, वह उसके कारण से होती है। शरीर की, वाणी की, सब परपदार्थ के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध रखा तो राग के साथ। त्रिलोकनाथ वीतराग और राग के साथ सम्बन्ध रखा। वीतराग प्रभु ऐसा भगवान आत्मा उसने राग की मैत्री की थी। आहाहा! वह छोड़। 'परयोगात्' है न ? [परात्रागयोगात्] 'परात् रागयोगात्' पर से, राग के योग से। आहाहा! एक कलश परन्तु कितना भरा है! यह कहीं वार्ता नहीं है। आहाहा! यह तो जैसे शुभयोग और अशुभयोग कहा है न ? ऐसे शुद्धयोग भी कहा है, शुद्धयोग। आहाहा! शुद्धस्वरूप में एकाग्र होना, वह शुद्धयोग है। ऐसी सादी भाषा में शुद्ध उपयोग। परन्तु शुद्धयोग—शुद्ध में योग (अर्थात्) जुड़ान करना। शुभभाव और अशुभभाव, वह शुभयोग और अशुभयोग, उसके साथ जुड़ान हुआ। यहाँ शुद्धयोग। आहाहा! क्योंकि वस्तु स्वयं शुद्ध त्रिकाली है, उसके साथ जुड़ान किया, इसका नाम शुद्धयोग और शुद्ध उपयोग। उसके द्वारा आत्मा अन्दर स्थिर हुआ। शुद्धयोग द्वारा। आहाहा! शुभ-अशुभयोग द्वारा तो भटकने का हुआ। आहाहा! है ?

मुमुक्षु : शुभ से तो सेठिया हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठिया, अब सेठिया सब। आहाहा! एक बार कहा नहीं था? 'चूड़ा' में थे न अपने रायचन्द दोशी? अपने नारणभाई के श्वसुर के पिता। नारणभाई ने दीक्षा ली थी। रायचन्द दोशी थे, चूड़ा के, वृद्ध थे। एक बार जेठमलजी थे न? अन्दर आये वहाँ ऐसे चूडावाले जरा कठोर। खड़े न हों। क्योंकि हमारा बहुत बार जाना होता था। वे लोग साधारण की बात मानें नहीं। इसलिए वह अन्दर घुसा, खड़े होओ न! वहाँ वह बोलता है, जेठी! बैठ न नीचे। ऐसे यह सेठ और बैठ और हैठ। यहाँ तो सेठ के साथ... आहा! सेठिया, किसका सेठिया? बापू! अरे रे! धूल के धनी।

मुमुक्षु : अभी सेठ और नौकर की बात आ गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आयी थी न। (सेठ) व्यापार नहीं करता, तथापि व्यापार करने का मालिक है। वह नौकर व्यापार करता है तो भी उसका मालिक नहीं। यह तो दृष्टान्त दिया। आहाहा!

यहाँ तो दूसरा कहना है कि 'परात् रागयोगात्' ऐसा कहा है। पर के, शरीर, वाणी, मन और स्त्री, पुत्र से छूट जा, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! एक भगवान आत्मा पूर्ण शान्त और वीतरागमूर्ति प्रभु, वीतरागी अमृत के सागर का भरपूर भगवान आत्मा, उसका अभ्यास-अनुभव कर। उसमें टिक, ऐसा। और 'परात् रागयोगात्' पर से अर्थात् रागयोग से, राग के सम्बन्ध से। आहाहा! **सर्वतः...** अर्थात् कोई ऐसा कहे कि कोई अशुभराग तो ठीक परन्तु शुभराग है, परन्तु उसमें बहुत... परमात्मा की भक्ति, विनय वह तो जरा आदरणीय है या नहीं? आहाहा! तो कहते हैं कि 'परात् रागयोगात्' **सर्वतः [विरमति] विरमता (रुकता)** है। सर्व प्रकार से विरमता है। आहाहा! सर्व स्वभाव भगवान आत्मा में स्थिर होता है, तब राग के सर्व प्रकार से छूट जाता है। आहाहा! ऐसा उपदेश, इसलिए लोगों को (कठिन) लगता है। वस्तुतत्त्व ऐसा है, बापू! आचार्य स्वयं कहते हैं न, देखो न! 'परात्सर्वतो रागयोगात्' है? चौथा पद है। 'परात्सर्वतो रागयोगात्' मूल पाठ, कलश। आहाहा! पर से अर्थात् पर के राग योग से सर्वथा प्रकार विराम पाता है।

(यह रीति ज्ञानवैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हो सकती)। इस प्रकार, यह रीति अर्थात् यह प्रकार। (ज्ञानवैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हो सकती)। कौन सा प्रकार? कि स्व में रहना और पर से छूटना, इस ज्ञान-वैराग्य की शक्ति बिना यह रीति नहीं

हो सकती। आहाहा! एक कलश, एक घण्टा होने को आया। कहीं तुम्हारे यहाँ छह हजार, आठ हजार में-धूल में मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा! 'स्वस्मिन् आस्ते' 'आस्ते' अर्थात् स्थिर हो। 'आस्ते' (अर्थात्) रह, रह। आहाहा! और 'परात् रागयोगात् विरमति' परन्तु सर्व प्रकार से 'विरमति' आहाहा! राग का कोई भी अंश आदरणीय (नहीं है)। जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधे, वह राग भी आदरणीय नहीं है। आहाहा! वह तो अपराध है। पुरुषार्थसिद्ध उपाय में है। जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधता है, वह भाव अपराध है। आहाहा! आता है, होता है। भावपाहुड़ में कहा अवश्य, अशुभ से बचने को तीर्थकरगोत्र बाँधने के भाव कर, ऐसा भी आवे, ऐसा आता है व्यवहार, परन्तु वह तो अशुभ से बचने को, अशुभस्थान को टालने के लिये आता है, परन्तु है तो बन्ध का कारण। उससे छूटनेयोग्य है, उसे रखनेयोग्य नहीं। आहाहा!

(यह रीति..) यह रीति क्या कहा? कि स्व और पर; स्व का ग्रहण और पर का त्याग। तत्त्व से स्व और पर का भेद। तत्त्व से स्व में रहना और पर से, राग से छूटना। यह रीति, यह प्रकार। (ज्ञानवैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हो सकती)। वह सच्चा ज्ञान और सच्चा वैराग्य बिना यह नहीं हो सकता। आहाहा! सच्चा ज्ञान, हों! ज्ञानमात्र जानपना, वाँचन और ग्यारह अंग, वह नहीं। तत्त्वतः-ऐसा कहा है न? आहाहा! इस प्रकार, इस विधि (ज्ञानवैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हो सकती)। आहाहा! यह श्लोक पूरा हुआ।

गाथा-१९८

सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरावेवं तावज्जानाति -
 उदयविवागो विविहो कम्माणं वणिणदो जिणवरेहिं ।
 ण दु ते मज्झ सहावा जाणग-भावो दु अहमेक्को ॥१९८॥
 उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः ।
 न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः ॥१९८॥
 ये कर्मोदयविपाकप्रभवा विविधा भावा न ते मम स्वभावाः । एष टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायक-
 भावोऽहम् ॥१९८॥

अब प्रथम, यह कहते हैं कि सम्यक्दृष्टि सामान्यतया स्व और पर को इस प्रकार जानता है:-

कर्मों हि के जु अनेक, उदय विपाक जिनवर ने कहे।
 वे मुझ स्वभाव जु हैं नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥१९८॥

गाथार्थ : [कर्मणां] कर्मों के [उदयविपाकः] उदय का विपाक (फल) [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेव ने [विविधः] अनेक प्रकार का [वर्णितः] कहा है, [ते] वे [मम स्वभावाः] मेरे स्वभाव [न तु] नहीं है; [अहम् तु] मैं तो [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकभाव हूँ।

टीका : जो कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भाव हैं, वे मेरे स्वभाव नहीं हैं; मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ।

भावार्थ : इस प्रकार सामान्यतया समस्त कर्मजन्य भावों को सम्यग्दृष्टि, पर जानता है और अपने को एक ज्ञायकस्वभाव ही जानता है।

गाथा - १९८ पर प्रवचन

अब प्रथम, यह कहते हैं कि सम्यक्दृष्टि सामान्यतया स्व और पर को इस प्रकार जानता है:-

उदयविवागो विविहो कम्माणं वणिदो जिणवरेहिं ।

ण दु ते मज्झ सहावा जाणग-भावो दु अहमेक्को ॥१९८॥

कर्मों हि के जु अनेक, उदय विपाक जिनवर ने कहे।

वे मुझ स्वभाव जु हैं नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥१९८॥

आहाहा! ऐसी शर्ते हैं, ऐसी जवाबदारी है। उसका झुकाव तो कर, झुक तो सही। ऐसा है, इसकी अपेक्षा ऐसे झुक तो सही। आहाहा! झुकाव। आहाहा! उसमें यह तत्त्वदृष्टि और तत्त्वज्ञान, स्वरूप में स्थिर होना और पर से छूटना, वह तुझे तब होगा, इसके बिना हो सकेगा नहीं। आहाहा! कर्मों के उदय का विपाक (फल) जिनेन्द्रदेव ने अनेक प्रकार का कहा है... विपाक, हों! सत्ता पड़ी है, वह नहीं। आहाहा! उदय का विपाक (फल) जिनेन्द्रदेव ने अनेक प्रकार का कहा है, वे मेरे स्वभाव नहीं हैं; मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ।

टीका :- यह है तो दो लाईन। आहाहा! जो कर्मोदय के विपाक से... यह क्या कहा? कर्म सत्ता में पड़ा है, उसकी यह बात नहीं है। उदय में आया, पाक आया, पाक। खिरने के समय पाक आया। उस उदय विपाक से, कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए... आहाहा! भगवान आत्मा के विपाक से उत्पन्न हुए नहीं। भगवान आत्मा का विपाक तो अतीन्द्रिय आनन्द का उत्पन्न होना, वह भगवान आत्मा का विपाक है। आहाहा! पहले यह डाला, देखा? दूसरा विस्तार भले बाद में करेंगे।

कर्मोदय के विपाक से... अब बाधा यहीं से सब है कि कर्म के कारण से जो विकार होता है, वह कर्म के कारण से होता है। यहाँ तो उदय के विपाक से उत्पन्न हुए, तेरी योग्यता से, कमजोरी से। आहाहा! वह तो जड़ है - कर्म तो जड़ है। जड़ की पर्याय कहीं तुझे स्पर्श नहीं करती। आहाहा! अनन्त काल हुआ परन्तु कर्म को कभी आत्मा स्पर्शा नहीं है तथा कर्म आत्मा को स्पर्शा नहीं है। अरे! ऐसा परिभ्रमण हुआ न? वह तो तेरे विपरीत भाव के कारण हुआ है। कहीं कर्म के कारण हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भाव हैं। आहाहा! राग, द्वेष, सुख, दुख, फिर बाहर की सामग्री भी ली जाती है। शरीर, सामग्री, पैसा-लक्ष्मी,

इज्जत-कीर्ति, सब। यह अनेक प्रकार के भाव हैं। वे मेरे स्वभाव नहीं हैं;... धर्मी ऐसा जानता है कि ये मेरे स्वभाव (नहीं है), वे मेरे नहीं हैं। ये मेरे नहीं हैं अर्थात् ये मेरे स्वभाव नहीं हैं। मेरे स्वभाव नहीं हैं अर्थात् ये मेरे नहीं हैं। आहाहा! ये लड़के भी मेरे नहीं, पैसे भी मेरे नहीं, ऐसा। घातिकर्म के उदय से अन्दर रागादि (होते हैं), अघाति के उदय से संयोग (प्राप्त होते हैं)। संयोग, वह मेरा स्वभाव नहीं है। धर्मी ऐसा जानता है कि वह मेरा स्वभाव नहीं है। आहाहा! वह मेरी चीज़ नहीं है, वह मुझमें नहीं है, वह मैं नहीं हूँ। आहाहा!

अनेक प्रकार के... एक प्रकार के नहीं न? राग भी अनेक प्रकार का, द्वेष भी अनेक प्रकार का और बाहर के संयोग, संयोगी चीज़, अनेक प्रकार के संयोग। ऐसे स्फटिक के महल हों, स्फटिक के महल! एक-एक स्फटिक करोड़ों-अरबों की कीमत का, उसका तो महल हो, घर का। रावण को स्फटिक का महल था। रावण मरकर नरक गया। आहाहा! ऐसे सीढ़ियों में चढ़ते-चढ़ते भी भ्रम पड़ जाए। स्फटिक, इसलिए सब दिखायी दे और वह सीढ़ी भी वहाँ दिखायी दे। अब उस सीढ़ी में चढ़ता हूँ या नीचे (उतरता हूँ, खबर नहीं पड़ती) ध्यान रखना पड़ता है। स्फटिक की सीढ़ियाँ, स्फटिक के पत्थर। आहाहा! और ऊपर मंजिल जाए, वह भी स्फटिक की। अरे रे! यह अनेक प्रकार के भाव बाह्य में और अन्दर में अनेक प्रकार के भाव राग के, दोनों कर्म। घाति और अघाति। घाति से अन्दर में और अघाति से (बाहर में)। घाति से अन्दर का अर्थ कहीं घाति से हुआ नहीं है। घाति (कर्म) वह निमित्त है और अपने उपादान से होता है, इसलिए घाति से होता है—ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए... ऐसा कहा न? राग-द्वेष होता है, वह कर्म के उदय के विपाक से होता है, ऐसा कहा। आहाहा! यह तो वह उदय है, तब यहाँ विकार स्वयं करता है, स्वयं के कारण से (करता है), तब उस कर्म को निमित्त कहा जाता है। आहाहा! यहाँ तो परभाव बताना है न? कर्म के उदय से जितने विकल्प उठते हैं, वे सब परवस्तु है। और कर्म के उदय साता वेदनीय आदि से या नामकर्म से बाहर में यशकीर्ति और बाहर में धड़ाका-धमाल, बड़ी इज्जत हो नामकर्म के कारण, वह सब मेरा स्वभाव नहीं है,

वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! यशकीर्ति ऐसी बाहर में जमी हो, वह एक कर्म के उदय का फल है, वह कहीं मैं नहीं हूँ। आहाहा! वापस कितना मुड़ना पड़ेगा? आहाहा!

मुमुक्षु : मुख फिराना पड़ेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : झुकाव ही बदलना पड़ेगा। आहाहा! एक ओर भगवान और एक ओर राम और एक ओर गाँव, विकल्प से लेकर पूरी दुनिया। आहाहा!

कहते हैं कि कर्म के उदय के विपाक से। इसमें से निकालते हैं... कर्म के उदय के कारण रागादि होते हैं, देखो! यहाँ तो कहना है कि उसका यह स्वभाव नहीं है। विकार होता है, वह उसके स्वयं के कारण से। विकार होता है, वह षट्कारक के परिणमन से होता है। उसे निमित्त की तो अपेक्षा नहीं परन्तु द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : वह कर्म में जुड़े और विकार होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वयं जुड़ता है, तब ही उसे विकार होता है। कर्म तो जड़ है, वह जड़ है, अजीव है। तुझमें राग-द्वेष हो, वह चैतन्य के भास जैसा है। तुझमें तुझसे होता है। कर्म के कारण बिल्कुल एक प्रतिशत भी नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : न जुड़े तो निर्जरा हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसीलिए तो कहते हैं। वे मेरे स्वभाव ही नहीं हैं। मेरा स्वभाव तो भगवान मेरे पास है। यह सब विकार और बाहर में विकार का फल, वह मेरा स्वभाव ही नहीं। उसमें मैं नहीं हूँ, वे मेरे नहीं हैं, मुझमें वे नहीं हैं, उनमें मैं नहीं हूँ। आहाहा!

वे मेरे स्वभाव नहीं हैं;... आहाहा! सवा दो-ढाई लाईन है परन्तु... मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर)... मेरा भगवान तो मुझे प्रत्यक्ष वेदन में आता है। आहाहा! धर्मी जीव ऐसा जानता है कि मेरा नाथ, मुझे मेरा अतीन्द्रिय आनन्द अनुभव में आता है, वह मैं हूँ। आहाहा! दया, दान के परिणाम तो मैं नहीं, अशुभ तो नहीं, बाह्य की सामग्री तो उसकी पर्याय उसमें, वह तो नहीं... आहाहा! मैं तो प्रत्यक्ष अनुभवगोचर हूँ। परोक्ष रहूँ, वह मैं नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! ज्ञान की वर्तमान पर्याय आत्मा को सीधी पकड़ती है, वह प्रत्यक्ष है। उसे पकड़ने में किसी की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसा कहकर तो यह भी

कहा कि अनुभव में व्यवहार की अपेक्षा नहीं कि व्यवहार कषाय मन्द हो, दया, दान और ऐसा राग हो, उसे अनुभव हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह तो परवस्तु है। आहाहा!

मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर)... आहाहा! टंकोत्कीर्ण... आहाहा! एक ज्ञायकभाव हूँ। यह अनेक भाव, वे मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं एक ज्ञायकभाव हूँ। देखा? गुण-गुणीभेद और मैं अनेक गुण हूँ—ऐसा भी नहीं लिया। मैं अनेक गुणवाला हूँ—(ऐसा भी नहीं)। आहाहा! (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर)... प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष अनुभवगम्य। टंकोत्कीर्ण... जैसा है, वैसा ऐसा का ऐसा। यह ज्ञायकभाव हूँ। मैं तो यह ज्ञायकभाव हूँ। लो।

इस प्रकार सामान्यतया... सामान्य अर्थात् एकदम भगवान भिन्न और रागादि सब, फिर उसके भेद भले करेंगे परन्तु एक साथ दोनों भिन्न कर दिये। सामान्यतया समस्त कर्मजन्य भावों को सम्यग्दृष्टि, पर जानता है और अपने को एक ज्ञायकस्वभाव ही जानता है। एक ज्ञायकस्वभाव वापस, देखा! अनेक गुण-गुणी भेद भी नहीं। आहाहा! वे अनेक विकल्प, विकार और बाहर की सामग्री, वह सब मेरे स्वभाव में नहीं है, मेरा स्वभाव नहीं है और मैं हूँ तो ज्ञायकभाव हूँ। उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि को निर्जरा होती है, ऐसा कहना है।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)